बालिका विद्यालय में जेंडर की निर्मिति और उसके सामाजिक निहितार्थ

रंजना

जेंडर एक सामाजिक निर्मिति है। हमारे समाज में जेंडर यानी लिंग भेदभाव की जड़ें बहुत गहरी हैं, जिसे हम रोज़मर्रा के जीवन में पल प्रतिपल देखते और महसूस करते हैं। जेंडर से जुड़ी असमानताएँ अन्य तरह के भेदभावों को भी जन्म देती हैं। यह लेख दिल्ली के एक सीमावर्ती प्राथमिक विद्यालय की दिनचर्या के सूक्ष्म अवलोकनों से पितृसत्तात्मक समाज के पोषण और बालिकाओं की बहिष्करण प्रक्रियाओं को टटोलते हुए जेंडर निर्मिति की परिस्थितियों को सामने रखता है। लेख यह प्रश्न भी उठाता है कि समतामूलक समाज बनाने में शिक्षा और शिक्षकों की महती भूमिका देखते हुए यह समझना लाज़िमी है कि विद्यालय में जेंडर निर्मिति के लिए किस तरह के अनुभव गढ़े जा रहे हैं, और ये पितृसत्ता को मज़बूत बनाते हैं या कमज़ोर करते हैं। सं.

हमारे समाज में लिंग भेद और उससे उपजे भेदभाव लगभग सभी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रक्रियाओं में गुँथे हुए हैं। समस्या महिलाओं या पुरुषों के अलग होने में नहीं, बल्कि पुरुषों को महिलाओं से प्रधान मान लेने में है। महिलाओं को पुरुषों से कम आँकने व उन्हें कम सुविधाएँ देने का चलन प्राचीन है। समाजीकरण की व्यवस्था इस भेदभावपूर्ण प्रक्रिया को निरन्तर पोषित करने का कार्य करती रही है, जहाँ लड़के व लड़कियों को ऐसे परम्परागत समाज के लिए तैयार किया जाता है और उन्हें उनकी जेंडर[1] भूमिकाएँ सिखाई जाती हैं।

भारतीय संविधान के मूल में समानता की नींव रखते हुए महिलाओं व पुरुषों को बराबरी तक पहुँचाने का स्वप्न स्वतंत्र भारत में देखा गया परन्तु उस समय हमारे समाज में महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय थी। क़ानूनी रूप से बराबरी का अधिकार व सामाजिक रूप से अत्यन्त पिछड़े दर्जे ने महिलाओं के सैद्धान्तिक अधिकार व सामाजिक सच्चाई में एक गहरी खाई पैदा कर दी और शिक्षा को उस खाई को भरने का माध्यम माना। तभी से लगभग सभी शैक्षिक योजनाओं, प्रारूपों, नीतियों व क़ानूनों में लिंग-आधारित असमानता को हटाने का विचार चलता आ रहा है और महिलाओं की स्थिति सुधारने के तरीक़े सुझाए जाते रहे हैं। साथ ही, शिक्षा को सामाजिक व पारिवारिक सन्दर्भों में महिलाओं की स्थिति सुधारने और अपनी क्षमताओं को उपयोग करने का एक सशक्त माध्यम माना गया।

यदि शिक्षा और शिक्षक को समतामूलक समाज बनाने वाले एक बदलाव के एजेंट के रूप में देखें तो यह देखना महत्त्वपूर्ण होगा कि विद्यालयों में जेंडर निर्मिति की किस तरह की प्रक्रियाएँ चल रही हैं और उससे सम्बन्धित किस प्रकार के अनुभव गढ़े जा रहे हैं। क्या ये शैक्षिक अनुभव पितृसत्तात्मक समाज की

1. जेंडर एक सामाजिक निर्मिति है जो बच्चा, समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समाज के नियम एवं मानदण्डों को सीखता और व्यवहार में लाता है।

रूढ़िगत नीतियों को चुनौती दे पा रहे हैं या उन्हें और मज़बूती प्रदान कर रहे हैं। इसके लिए इस लेख में एक विद्यालय के कुछ अवलोकन साझा किए जा रहे हैं, जो विद्यालयी प्रक्रियाओं व शिक्षक की भूमिका को जेंडर के सम्बन्ध में टटोलने में विमर्श का आधार बनेंगे।

क्रियाएँ एवं व्यवहारों का समाजीकरण

यह विद्यालय एक प्राइमरी सरकारी विद्यालय है जो दिल्ली शहर की सीमा पर स्थापित है। यह विद्यालय दो पालियों में चलता है। सुबह में लड़कियों की पाली और दोपहर में लड़कों की पाली। हमारे अवलोकन प्रथम पाली से लिए गए हैं। प्रथम पाली में लड़कियाँ पढ़ती हैं और यहाँ सभी शिक्षक महिलाएँ हैं। दैनिक प्रक्रिया में पुरुषों की उपस्थिति विद्यालय में किसी छात्रा के अभिभावक, पिता, भाई, चाचा, मामा या नाना-दादा के रूप में होती है और एक बार तब जब 'मिड-डे मील' का वाहन विद्यालय के दरवाज़ों से अन्दर आता है। इसके अलावा बहुत कम अवसरों पर पुरुष विद्यालय के भीतर आते हैं। जैसे किसी दूसरे विद्यालय से किसी पुरुष अध्यापक का किसी काम से आना या निरीक्षण और अन्य कार्य हेतु किसी पुरुष अफ़सर का आना आदि। परन्तु फिर भी अध्यापिकाओं के मन में पुरुष व पुरुष समाज का भान हर एक पल रहता है, जिसके लिए निरन्तर तैयारी चलती रहती है। उदाहरणस्वरूप, प्रार्थना सभा में जब बच्चियाँ बैठती थीं तो अध्यापिकाओं का ध्यान अधिकतर इस बात पर होता था कि सभी लड़कियाँ सलीक़े से अपनी स्कर्ट को बँटोरकर इस प्रकार बैठी हैं या नहीं कि उनके घुटने एक दूसरे से मिले रहें और घुटने से ऊपर का हिस्सा एकदम स्कर्ट से कसा हुआ हो, जिससे घुटने के ऊपर के शरीर का कोई भाग दिखने की सम्भावना शून्य हो जाए और लड़कियाँ सिमटकर कम जगह में बिना हिले बैठकर प्रार्थना सभा की गतिविधियों में शामिल रहें। यहाँ यह दोहराना ज़रूरी है कि यह एक प्राइमरी विद्यालय है, जहाँ सिर्फ़ लड़कियाँ पढ़ती हैं और स्टाफ़ में केवल महिला अध्यापिकाएँ हैं। बैठने के तरीक़ों (जैसे– पैर खोलकर बैठना और स्कर्ट को छोड़कर पैर मोड़कर बैठना जिससे उनके घुटने से ऊपर के शारीरिक भाग व स्कर्ट के अन्दर पहने कपड़ों के दिखने की सम्भावना बढ़ जाती है) पर कई बार प्रार्थना सभा में ही कुछ लड़कियों को अध्यापिकाओं द्वारा झिड़क दिया जाता था और कुछ शब्द, जैसे– शर्म नहीं है, अक़्ल नहीं है, तमीज़ नहीं है, आदि के रूप में कठोर भाषा का प्रयोग कर उनके बैठने के तरीक़े को ठीक किया जाता था। पुरुषों की भौतिक रूप में उपस्थिति न होते हुए भी उनकी उपस्थिति अध्यापिकाओं की अपेक्षाओं, उनके प्रशिक्षण व लड़कियों के व्यवहार में साफ़ दिखाई देती है। ये अपेक्षाएँ व प्रशिक्षण, कि लड़की को कैसे बैठना है, कैसे बोलना है, कैसे चलना है, क्या पहनना है, कैसे पहनना है, एक अर्थ में पितृसत्तात्मक समाज का भरण पोषण कर रहा होता है।

बहिष्करण की प्रक्रिया

जिन लड़कियों के मासिक धर्म कक्षा चौथी या पाँचवीं में शुरू हो गए थे उनके शरीर की बनावट झलकने लगी थी। अध्यापिकाओं द्वारा उनके एक तय आयु[2] से पहले शारीरिक परिपक्वता को हीन दृष्टि से देखा जाता था और उस भाव को उन लड़कियों तक सम्प्रेषित भी किया जाता था। सम्प्रेषित करने के अलग-अलग तरीक़े देखे गए, जिसे प्रत्यक्ष रूप से न कहकर कुछ अलग तरह से कहा जाता था। जैसे– लड़कियों की स्कर्ट छोटी होने की बात करना, उनकी कमीज कसी (टाइट) होने की शिकायत, उनके बाल बनाने के तरीक़े पर टिप्पणी या विद्यालय में बेवजह घूमने को लेकर शिकायत आदि। साथ ही जब किसी प्रतियोगिता या कार्यक्रम के लिए कुछ बच्चों को विद्यालय से बाहर लेकर जाया जाता

2. तय आयु पहले 13 वर्ष मानी जाती थी, परन्तु पिछले कुछ वर्षों से 10 वर्ष की आयु में भी मासिक धर्म का आना सामान्य माना गया है।

था तो उनके चयन का एक पैमाना लड़की का शारीरिक विकास भी होता था। ऐसा माना जाता था कि अगर शारीरिक परिपक्वत्ता प्राप्त कर रही लड़कियों को साथ ले गए तो वहाँ कुछ दुर्घटना होने की सम्भावना बढ़ जाएगी। दुर्घटना से यहाँ तात्पर्य लड़कियों के साथ पुरुषों द्वारा छेड़छाड़ से है क्योंकि ऐसी प्रतियोगिताओं एवं कार्यक्रम में लड़के विद्यार्थी व पुरुष अध्यापक भी मौजूद होते हैं। यहाँ यह धारणा भी है कि छेड़छाड़ के मामले लड़कियों की शारीरिक बनावट की तरफ़ आकर्षण से होते हैं और यह डर भी कि अगर ऐसा कुछ हो गया तो उसकी ज़िम्मेदारी उस अध्यापिका की मानी जाएगी जो लड़कियों के साथ जाती है। इसलिए ऐसी किसी अनचाही दुर्घटना व पेचीदे मामले में फँसने के डर से लड़कियों को विद्यालय में ही रहने दिया जाता था। विद्यालय के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी शारीरिक बनावट को प्राप्त करती हुई लड़कियों (किशोरियों) को नृत्य जैसे कार्यक्रम में शामिल नहीं किया जाता था। उसकी बजाय उन्हें समूह गान या अन्य कार्यक्रमों में, जिनमें शारीरिक संचलन की आवश्यकता नहीं होती थी, जोड़ लिया जाता था। ऐसा इसलिए किया जाता था क्योंकि अधिक लम्बी अवधि से कार्यरत अध्यापिकाएँ नृत्य करते समय शारीरिक संचलन को अश्लील मानती थीं, जो कई बार उनके द्वारा की गई भद्दी टिप्पणी से स्पष्ट झलकता था, जैसे– 'इसका शरीर बढ़ रहा है ये नाचते हुए उछलेगी तो भोंडी लगेगी', 'ये तो पूरी औरत लगेगी डांस के कपड़ों में', 'बस डांस करा लो, पढ़ाई में तुम्हारा मन लगता नहीं है नाच-गाना और फ़ैशन ही रह गए हैं'। ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि इन टिप्पणियों में सिर्फ़ शारीरिक बनावट प्राप्त करती 'लड़की विद्यार्थी' को ही जगह नहीं मिलती थी बल्कि विद्यालय में कार्यरत अन्य छोटी उम्र व 'कम अनुभवी अध्यापिकाओं' (जिनका नौकरी में अनुभव कम वर्षों का है) की जगह भी शामिल थी। छोटी उम्र व कम अनुभवी अध्यापिकाओं के कपड़ों, दुपट्टा डालने के तरीक़ों व शरीर के अंगों पर भी टिप्पणी जैसे– 'ये सूट कितना टाइट है, ढीले कपड़े अच्छे लगते हैं टीचर्स पर', 'बिना दुपट्टा मत रहा करो, तुम्हें तो पता ही है माहौल कैसा है आजकल, अपनी सेफ़्टी अपने हाथ है', 'ये तो कुछ भी पहन ले इसकी बॉडी लैंग्वेज ही अजीब है', आदि चलते फिरते सुनी जा सकती थीं। यहाँ पुनः याद दिलाना चाहूँगी कि यह सभी महिलाओं वाला विद्यालय है, अतः टिप्पणियाँ महिलाओं की तरफ़ से अन्य महिलाओं व विद्यालय में पढ़ने वाली लड़कियों के लिए आती थीं। इस प्रकार यहाँ महिलाओं द्वारा पुरुष समाज की रचना पुरुषों से बचाने के कर्तव्य के रूप में रचते हुए समझी जा सकती है। लड़कियों की शारीरिक बनावट को समाज से छुपाकर रखना और शारीरिक परिपक्वता की ओर बढ़ती हुई लड़की को धीरे-धीरे सामाजिक आँखों से ओझल कर देने की प्रक्रिया इस विद्यालय के साथ हमारे परिवारों में भी घटित होती है। जिस प्रकार यहाँ लड़की के शरीर को दुर्घटना होने की सम्भावना के रूप में देखा जा रहा है और उसके चलते उसे विद्यालयी गतिविधियों से दरकिनार कर दिया जा रहा है, उसी प्रकार हमारे घरों में भी जब लड़की बड़ी होने लगती है तो वो पारिवारिक चहल-पहल से भी दरकिनार कर दी जाती है और उसे घर में कुछ विशेष जगहों तक सीमित कर दिया जाता है। मेहमानों का घर में आना हो या किसी युवक का, लड़की को दूसरे कमरे में भेज दिया जाता है। किसी समारोह में जाना हो तो उसको घर की रखवाली या निगरानी का ज़िम्मा दिया जाता है। सामाजिक

जब किसी प्रतियोगिता या कार्यक्रम के लिए कुछ बच्चों को विद्यालय से बाहर लेकर जाया जाता था तो उनके चयन का एक पैमाना लड़की का शारीरिक विकास भी होता था। ऐसा माना जाता था कि अगर शारीरिक परिपक्वत्ता प्राप्त कर रही लड़कियों को साथ ले गए तो वहाँ कुछ दुर्घटना होने की सम्भावना बढ़ जाएगी। दुर्घटना से यहाँ तात्पर्य लड़कियों के साथ पुरुषों द्वारा छेड़छाड़ से है

गतिविधियों से बहिष्करण की प्रक्रिया दोनों जगह पर प्रभावी है, चाहे वो विद्यालय में घटित हो रही हो या घर में। बहिष्करण की यह प्रक्रिया जिस प्रकार विद्यालय में शारीरिक बनावट को प्राप्त करती लड़कियों की मुख्य गतिविधियों में अनुपस्थिति के रूप में दर्ज होने लगती है, उसी प्रकार सार्वजनिक स्थलों (जैसे– पार्क, दुकान, सड़क, मेला व अन्य कार्यक्रम) से किशोरियों की अनुपस्थिति के रूप में भी देखी जा सकती है। यह अनुपस्थिति न केवल भौतिक रूप में होती है अपितु उस जगह व वहाँ होने वाली अन्त:क्रियाओं से लड़कियाँ, उनके विचार, आकांक्षाएँ व उनकी समस्याएँ भी ग़ायब हो जाती हैं। जो किशोरियाँ इस बहिष्करण की प्रक्रिया को धता बताते हुए अपनी ज़िद पर सार्वजनिक जगहों में उपस्थिति दर्ज करती हैं, समाज उनके चरित्र को सन्देह की दृष्टि से देखता है।

बालिकाओं का विदाई समारोह

सत्र के अन्त में पाँचवीं कक्षा को दिए जाने वाले विदाई समारोह पर विचार विमर्श करते हुए प्रत्येक वर्ष विद्यालय की अधिक अनुभवी अध्यापिकाओं द्वारा यह प्रस्ताव रखा जाता था कि लड़कियाँ अपने विद्यालय की यूनिफ़ॉर्म में ही आएँ, क्योंकि घर के कपड़ों में जब वे सज-सँवर कर विदाई समारोह के लिए आती हैं तो वे और बड़ी यानी कि परिपक्व और आकर्षक लगती हैं। ऐसे में वह राहगीरों से अवांछनीय आकर्षण ग्रहण करती हैं। लड़कियाँ नासमझ व उतावली तो हैं ही साथ में अगर किसी का पुरुष मित्र है तो उसके साथ विद्यालय से वापस लौटते समय घूमने ज़रूर जाएगी या वह फ़ोटोग्राफ़र की दुकान पर फ़ोटो खिंचवाने ज़रूर जाएगी, इसलिए विद्यालय यूनिफ़ॉर्म में हम इस प्रकार की कोई भी घटना को घटित होने से रोक सकते हैं। यानी समस्या लड़कियों के शरीर, कपड़े व उनके आकर्षक लगने की है न कि लड़कों के व्यवहार व मानसिकता से सम्बन्धित। कहीं-न-कहीं पुरज़ोर कोशिश यह है कि लड़कियाँ अपने शारीरिक विकास का इल्म किसी और को न होने दें, जिसके लिए उसे अपने शरीर के अंगों को अच्छे-से ढँक लेना है और यह उसकी ही ज़िम्मेदारी है। अगर वह ऐसा कर पाने में असमर्थ है तो उसका ख़ामियाज़ा उसे भुगतना पड़ सकता है।

लड़कियों के शारीरिक विकास व उसकी बनावट को सहज न मानकर एक गुनाह की भाँति करार दे देना, उनकी शारीरिक परिपक्वता को बोझ बना देना और उसे एक ख़तरे की भाँति देखते हुए ज़्यादा कड़ी निगरानी रखना व अपने-आप सामाजिक ज़िम्मेदारी लेना कि लड़की कुछ ग़लत न कर बैठे या इसके साथ कुछ ग़लत न हो जाए, पितृसत्तात्मक समाज की निर्मिति है, जिसका बीड़ा समाज की अनुभवी महिलाएँ उठा रही हैं और यहाँ विद्यालयी सन्दर्भ में अध्यापिकाएँ।

आश्चर्य की बात ये थी कि यही अध्यापिकाएँ अपने कहने या करने को लड़कियों व उनके परिजनों को लड़की के भले के लिए उठाए गए क़दम के रूप में प्रस्तुत करती थीं जिससे लड़कियों के अभिभावक भी सहमति रखते थे। इसके तीन कारण थे– पहला, इस विद्यालय में पढ़ने वाली लड़कियाँ अधिकतर प्रथम पीढ़ी की थीं जो शिक्षा के लिए विद्यालय आई थीं। यानी इनके अभिभावक कभी विद्यालय नहीं गए और वे विद्यालय को मन्दिर और अध्यापिकाओं को भगवान का दर्जा देते थे, इसलिए उनकी कही हर बात को अपनी लड़की की भलाई के लिए कही बात जैसा मानते थे। दूसरा, अभिभावक इसलिए भी सहमति रखते थे क्योंकि ये प्रक्रियाएँ व अपेक्षाएँ हमारे सामाजिक मानदण्डों से मेल खाती हैं, इसलिए उनको चुनौती देने की जगह वहाँ थी ही नहीं। तीसरा, अध्यापिकाओं व अभिभावकों की सहमति लड़कियाँ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जानती थीं, इसलिए कोई बड़ा प्रतिरोध उनकी तरफ़ से आया नहीं। लेकिन इन पूरी प्रक्रियाओं, संकेतों व हिदायतों का लड़कियों पर प्रभाव इस प्रकार देखा गया कि वे उन अध्यापिकाओं के सामने जाने से बचती

थीं, जो उन्हें शारीरिक बनावट के लिए अलग-अलग तरह से टोकती थीं। ये लड़कियाँ प्रार्थना सभा में न आकर कक्षा में बैठना पसन्द करती थीं। कॉरिडोर में चलते हुए सामने से किसी अध्यापिका के आने से वापस लौटकर वे रास्ता बदलते हुए अपनी कक्षा में पहुँचती देखी गईं। ये छोटे-छोटे तरीक़े थे जिनके द्वारा वे अनचाही शिकायतों व टिप्पणी से बचने का प्रयास करती थीं। कई मौक़ों पर ज़्यादा भद्दी टिप्पणी सुनने पर वे रो देती थीं। उन्हें विद्यालय की कुछ जगह में ही सिमटने के रूप में देखा गया, जैसा कि लड़कियों से अपेक्षित भी होता है। अन्ततः लड़कियाँ अपने शरीर को छुपाकर रखना सीख लेती हैं। शायद इसी बहिष्करण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप लड़कियाँ अपनी ज़रूरतों, आकांक्षाओं, और विचारों को दबाना भी सीख लेती होंगी क्योंकि इन सब मुद्दों पर बात करने के मौक़े भी इस विद्यालय में नदारद ही थे।

प्रसाद वाला फल

एक मौक़े पर देखा गया कि एक लम्बे समय से कार्यरत अध्यापिका अपनी चौथी कक्षा में उन सभी लड़कियों को केले बाँटती हैं जिन्होंने उस दिन व्रत (नवरात्रि का पहला दिन) रखा था। इसके पीछे उनका मत था कि इससे पुण्य मिलता है। यह अकेला वाक़या काफ़ी है यह समझने के लिए कि शिक्षक किस प्रकार पितृसत्तात्मक समाज का ही एक नुमाइन्दा या प्रतिनिधि है, जो सामाजिक व धार्मिक मूल्यों का पुनरुत्पादन कक्षा में करता है। इस अध्यापिका का यह व्यवहार लड़कियों तक सन्देश पहुँचाने के लिए काफ़ी है कि व्रत रखना उनके लिए सबसे अच्छा आचरण है। अगर अध्यापिका इस कर्म से पुण्य कमा रही हैं तो उन्हें ख़ुद व्रत रखने में कितना अधिक पुण्य मिलेगा। इस तरह की पुरस्काररूपी चीज़ें देना भी कुछ ही अवसरों पर होता होगा। अब ये अध्यापिका पर निर्भर है कि वह कौन-से अवसर एवं व्यवहार चुनती हैं। यहाँ यह चयन एक धर्म के दायरे में किसी ख़ास त्योहार के सन्दर्भ में है। पारिवारिक स्तर पर भी हिन्दू धर्म में नवरात्रि और हवन जैसे कुछ अवसर होते हैं, जहाँ लड़कियों को पूजा जाता है और उनके लिए विशेष भोज तैयार किया जाता है। जबकि अन्य सामान्य अवसरों पर चाहे लड़कियों के पोषण को नज़रअन्दाज़ कर दिया जाता हो।

जबकि दूसरी ओर वह अध्यापिका भी हैं, जो बच्चों के बोल्ड और शारीरिक व मानसिक रूप से मज़बूत होने को लेकर प्रयासरत हैं। वह अध्यापिका भी अपनी कक्षा की उन लड़कियों से बात करती हैं जिन्होंने उस दिन व्रत रखा। अध्यापिका कहती हैं– "तुम अभी छोटी हो तुम्हारे शरीर को खाने की ज़रूरत है।" फिर वह पूछती हैं– "अच्छा बताओ, तुम्हारे घर में और किसने व्रत रखा?" इसके जवाब में माताएँ, बहनें, बुआ, चाची, मामी जैसे नाम आते हैं। इसके जवाब में अध्यापिका कहती हैं– "अगर व्रत रखना इतना ही अच्छा है तो तुम्हारे भाई और पापा क्यों नहीं रखते व्रत? ऐसा कौन-सा भगवान है जो छोटे-छोटे बच्चों को भूखा देखकर ख़ुश होगा?" ऐसा कहते हुए अध्यापिका इन बच्चियों को अपना-अपना टिफ़िन लेकर विद्यालय में मिड-डे मील बाँटने वाली जगह लेकर जाती हैं। जो लड़कियाँ टिफ़िन नहीं लाईं,

चित्र : हीरा धुर्वे

वे दूसरी लड़कियों से उनके टिफ़िन का ढक्कन लेकर मिड-डे मील लेने जाती हैं।

अगर ऊपर दिए केलानुमा पुरस्कार का विश्लेषण करें तो इसका परिणाम हो सकता है कि जिन लड़कियों ने व्रत नहीं रखा, शायद अगली बार रखें। यह एक अनुभव लड़कियों के जीवन व समाज और रीति-रिवाजों के देखने व व्यवहार में लाने की प्रक्रिया पर गहन प्रभाव छोड़ दे। और अगर अध्यापिका 'Motherteacher' है तो उसके विचारों, अपेक्षाओं, कृत्यों और धारणाओं का विद्यार्थियों पर प्रभाव अत्यन्त गहरा होगा। बचपन के 5 वर्ष की आयु से लेकर 10 वर्ष पूरे करने तक बच्चा एक ही अध्यापिका से सभी विषय पढ़ता है और उसी से अन्त:क्रिया करता है। इस प्रभाव का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि बच्चा एक ही अध्यापिका की छत्र-छाया में अपना पूरा संसार रच लेता होगा। इन पाँच वर्षों में ऐसे कितने ही कृत्य, व्यवहार और उम्मीदें अध्यापिका द्वारा दोहराई जाती होंगी। क्रियाओं का दोहराव उनको और मज़बूती प्रदान करता है।

उपरोक्त घटना में एक बात और सतही स्तर पर जुड़ती है कि यहाँ व्रत जैसे धार्मिक कृत्यों को शुद्धता से जोड़कर लड़कियों के शरीर से चिपका देना और धार्मिक कृत्यों के लिए लड़कियों को उपयुक्त प्राणी मानने की धारणा हावी है। मासिक धर्म आते ही शारीरिक बनावट उसके लिए हीन हो जाती है और शुद्धता से चिपके व्रत जैसे कृत्य उसके ज़िम्मे ही आते हैं, जबकि पोषण के रूप में उसके खाने व शारीरिक विकास की ज़रूरत पर ध्यान नहीं जाता है। एक अध्यापिका अपनी कक्षा का अनुभव साझा करती हैं, जब एक तीसरी कक्षा की लड़की ने बताया कि 'मेरे घर में जब कुछ अच्छी सब्ज़ी बनती है और बच जाती है, बाद में मेरे भाई को ही दी जाती है तो मुझे बुरा लगता है।' हमारे परिवारों में दूध, जिसे शारीरिक के साथ मानसिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है, पर पहला अधिकार लड़के का होता है। लड़कियों के यह अनुभव बताते हैं कि किस प्रकार घर में पोषण लिंग भेदभाव के रूप में उपस्थित रहता है।

खेल का मैदान और भविष्य को लेकर डर की उपस्थिति

अवलोकन के दौरान यह पाया गया कि विद्यालय में खेल के मैदान का न होना किसी समस्या के रूप में नहीं उभरता। यहाँ खेल का मैदान मिट्टी व घास मैदान को कहा जा रहा है, जहाँ खेलते समय गिरने पर बच्चों को चोट न लगे। जिस विद्यालय के अवलोकन मैंने ऊपर साझा किए हैं वहाँ खेल का मैदान नहीं है, लेकिन कंक्रीट का एक मैदान है जहाँ प्रार्थना सभा होती है। यह मैदान लड़कियों के खेलने के लिए ख़तरे की तरह देखा जाता है, जबकि दूसरी पाली में पढ़ने वाले लड़के इसी मैदान पर दौड़ते, लुढ़कते और चीखते-चिल्लाते हुए खेलते हैं। लड़कियों के लिए ऐसा क्या अलग है इस मैदान में कि उन्हें आधी छुट्टी में भी कक्षाओं के भीतर रहने की ही हिदायत दी जाती है? गहराई से सोचने पर दो बिन्दु उभरते हैं। पहला, लड़कियों को उनकी जेंडर भूमिका को सिखाने के लिए उनके व्यवहार को सुधारना। वे कक्षा की चारदीवारी के दायरे में रहकर शान्त बैठना व अपने-आप को छोटी जगह में समाहित करना सीखती हैं। अपनी डेस्क पर उन्हीं खेलों को खेलती हैं जो छोटी जगह में आराम से बैठकर खेले जा सकते हैं। यह निश्चित ही आक्रामक खेल तो कभी नहीं हो सकते। दूसरा, अध्यापकों के अन्दर का डर कि अगर किसी लड़की के चेहरे पर चोट लग गई या उसकी कोई हड्डी टूट गई तो उसके रूप व शरीर को क्षति पहुँच जाएगी। इस डर को अध्यापक और लड़कियों के अभिभावक सामाजिक स्तर पर समान रूप से महसूस करते हैं। इस डर की उपज भविष्य में घटने वाली घटनाओं के रूप में भी देखी जा सकती है। लड़की की नियति 'विवाह' में ही देखी जाती है और विवाह की आयु पर पहुँचने तक उसके शरीर व रूप का विशेष ध्यान रखा जाता है, ताकि विवाह

की प्रक्रिया या उचित वर व ससुराल ढूँढ़ने में परेशानी न आए। लड़कियों के ख़तरे लेने के व्यवहार (risk taking behaviour) व शारीरिक रूप से सक्रिय खेलों और गतिविधियों में उनके भविष्य के सुनहरे अवसरों की कल्पना नहीं की जाती क्योंकि जेंडर भूमिकाओं के अनुसार इसमें लड़के ज़्यादा जँचते हैं।

सम्भावनाओं का होना

इसी विद्यालय की कक्षा में देखा गया कि अध्यापिका लड़कियों को विभिन्न खेल खेलने को प्रेरित करती हैं और साथ ही लड़कियों को स्कर्ट के नीचे पायजामा पहनने या घर से बैग में रखकर लाने और पायजामा पहनकर खेलने का मौक़ा देती हैं, ताकि लड़कियाँ बिना किसी रुकावट और शरीर के दिखने की चिन्ता व अन्देशा छोड़कर खेल का लुत्फ़ उठाएँ। परन्तु पूरे विद्यालय में ऐसा केवल दो अध्यापिकाओं द्वारा कराया जाता था। बात करने पर पता चला कि उन दोनों की रुचि खेलों व शारीरिक गतिविधियों में है इसलिए वे अपनी कक्षा की लड़कियों को भी खेलने के मौक़े देना पसन्द करती हैं, और लड़कियों के अभिभावकों को भी उन्हें खेलने के लिए समय देने के लिए प्रेरित करती हैं। इनमें से एक अध्यापिका 'फ़िज़िकली चैलेंज्ड' हैं और उनका कहना था, "मैं बच्चों को बताना चाहती हूँ कि अगर आप ठान लो तो यह छोटी-मोटी कमियाँ (शारीरिक कमी) मायने नहीं रखतीं। लड़कियों को 'बोल्ड' होना चाहिए। ताक़तवर होना चाहिए।" इनके जज़्बे व प्रयास का ही असर है कि इनकी कक्षा की लड़कियाँ विद्यालय में होने वाले खेलों में हमेशा अव्वल आती हैं व कुछ खेलों, जैसे– खो-खो, बैडमिंटन व कबड्डी, के सभी नियम भी जानती हैं। इन्होंने बताया कि लड़कियों के अभिभावक पहले ऐतराज़ करते थे जब उनकी लड़की को चोट लग जाती थी, परन्तु उनको समझाने और लड़की की खेल में रुचि होने को देखते हुए अब कुछ अभिभावक लड़कियों के खेलने को लेकर चिन्तित नहीं होते और इस अध्यापिका की पूरी कोशिश होती है कि खेलते वक़्त कोई दुर्घटना न होने पाए। वहीं कुछ अभिभावक अपनी लड़की को न खेलने देने के लिए एकदम अडिग थे। ऐसी स्थिति में उन लड़कियों को कक्षा के भीतर ही (indoor game) कोई दूसरा खेल खेलने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता था।

> अगर शिक्षा को समतामूलक मानें, जो पाठ्यपुस्तक व पाठ्यक्रम द्वारा विद्यालय में दी जाती है या उसका पोषण होता है, तो शिक्षक होना ऐसे बाहरी पूर्वाग्रहों, धारणाओं व सामाजिकमानदण्डों को अपने ऊपर हावी होने से रोकना है जो शिक्षा व संवैधानिक मूल्यों से मेल नहीं खाते।

लड़कियों को न खेलने देने के लिए अभिभावकों पर अनचाहे समय में एक आर्थिक बोझ भी बड़ा कारण था। चोट लगने पर लड़की का इलाज कराना परिवार की आर्थिक स्थिति को और बिगाड़ देता था, साथ ही लड़की का घर के कामों में हाथ बँटाना या अपने भाई-बहनों की देखभाल करने से होने वाली सहूलियत को भी ख़त्म कर देता था, बल्कि ऐसी स्थिति में लड़की की देखभाल करने के लिए माँ का अपना काम छोड़ घर पर रहना प्रतिदिन आ रहे मेहनताने को भी आधा कर देता था। परन्तु देखने वाली बात ये है कि परिवार लड़के के लिए ऐसा ख़तरा उठाने को तैयार रहता है, क्योंकि लड़के का शारीरिक रूप से सक्रिय होना सहज व उसकी प्रकृति के हिस्से के रूप में देखा जाता है जिसको नियंत्रित करना सम्भव व जायज़ नहीं है। इसलिए खेलों के सांस्कृतिक व सामाजिक आयामों के साथ आर्थिक आयाम को समझना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस अध्यापिका की सोच व उसका क्रियान्वयन शारीरिक बल के साथ मानसिक बल के लिए भी लड़कियों को तैयार करता हुआ नज़र आता है। परन्तु यह

सागर में एक बूँद की तरह और यही बूँद जैसी दिखने वाली कोशिशें, सम्भावनाओं को ज़मीनी हक़ीक़त प्रदान करती हैं, और पितृसत्ता पर आधारित सामाजिक रीतियों को चुनौती देती हैं।

समाज की पुनर्रचना या पुनरुत्पादन

उपरोक्त लिखित सभी घटनाएँ व उनका अवलोकन विद्यालय में बुने जा रहे अनुभवों का एक दृश्य अंकित करते हैं और ऐसे कई बिन्दुओं को रेखांकित करते हैं जो शिक्षा के अनुभवों को बुनने की प्रक्रिया में चिन्ता की भाँति उभरते हैं और कई प्रश्न छोड़ जाते हैं।

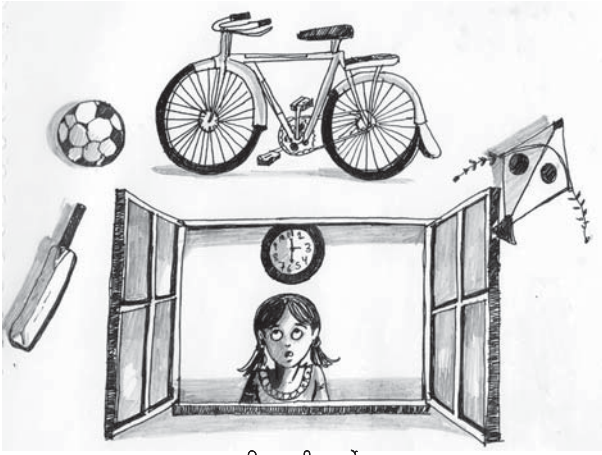
चित्र : हीरा धुर्वे

इनमें सर्वप्रथम चिन्ता है विद्यालय में सामाजिक मानदण्ड (societal norms) जो पितृसत्तात्मक समाज की नींव से उपजे हैं, उनका ज्यों का त्यों क्रियान्वयन यानी पुनरुत्पादन। विद्यालय को समाज के एक सूक्ष्म परिदृश्य के रूप में देखा जाता रहा है ताकि विद्यालय वो जगह बने, जहाँ समाज से सम्बन्धित समस्याओं और उनकी स्थितियों को समझा जा सके। परन्तु विद्यालय, विद्यालयी समाजीकरण द्वारा उन्हीं पूर्वाग्रहों व व्यवहारों को पोषित करता नज़र आ रहा है जैसा हूबहू हमारे समाज में हो रहा है। बस कुछ ही ऐसी जगहें व कक्षाएँ हैं जहाँ लड़कियों को ऐसे पूर्वाग्रहों व व्यवहारों से इतर मज़बूत व शारीरिक रूप से गठित और विकसित करने का प्रयास हो रहा है।

यहाँ यह अर्थ कतई नहीं है कि हमारा समाज बदलाव की ओर अग्रसर नहीं है, अपितु बदलाव की गति अत्यन्त धीमी है। विद्यालयों का यूँ सामाजिक मानदण्डों और जेंडर भूमिकाओं को पोषित करना भी समाज में बदलाव की धीमी गति का एक बड़ा कारण हो सकता है।

इसी प्रक्रिया की एक मज़बूत कड़ी हैं अध्यापक, जो विद्यालयी समाजीकरण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। विद्यालयी प्रक्रियाओं से इंगित होता है कि ज़्यादा अनुभवी अध्यापिकाओं पर सामाजिक मानदण्ड गहन रूप से हावी हैं। अध्यापिकाएँ इसी समाज व इसमें स्थित परिवारों में रची बसी हैं जहाँ वे माताएँ, पत्नी, बेटी व बहू के रूप में हैं और जीवन के लम्बे अनुभव के दौरान व अपने निजी अनुभवों की निर्मिति से जो समझ उन्होंने बनाई है, वह विद्यालय का दरवाज़ा पार करते ही नहीं बदल सकती। लम्बा अनुभव ही सम्भावित दुर्घटनाओं की कल्पना उनके मन में करता है। वही कल्पना वर्तमान में एक डर बनकर जीवित रहती है। डर की उपस्थिति ही विद्यालय के माहौल को निर्मित करती है और ऐसी गतिविधियाँ लड़कियों के दैनिक जीवन से हटा ली जाती हैं, जिसमें उनके भविष्य को ख़तरा माना है। जैसे– कंक्रीट के मैदान में खेलने से चोट लगने की सम्भावना अन्ततः अच्छा वर व ससुराल न मिलने के डर से संचालित होती है, जिससे वर्तमान समय में कक्षा के भीतर रहना ही उनकी भलाई के रूप में देखा जाता है।

बार-बार सामाजिक मानदण्डों व उनके अनुरूप व्यवहारों को सींचना, उसके लिए प्रेरित करना जैसे– व्रत रखने पर केला देना, लड़कियों को स्कर्ट समेटने के लिए बार-बार कहना और शारीरिक बनावट को प्राप्त करती लड़की का भौतिक जगह में रहते हुए ग़ायब हो जाना जैसे व्यवहार ठोस होते जाते हैं। अध्यापिका द्वारा विशेष व्यवहारों, संकेतों एवं क्रियाओं की श्रृंखला

का दोहराव अपेक्षित व्यवहारों को अधिक सुदृढ़ करता जाता है।

ये जेंडर प्रक्रियाएँ जो सामाजिक मानदण्डों को स्थापित करती हैं इसलिए भी बिना अवरोध के सुचारु रूप से चलती रहती हैं क्योंकि इन्हें बाहरी (अभिभावक व लड़कियों का परिवार) और आन्तरिक (विद्यालय के अन्य सदस्य) रूप से अवरोध नहीं झेलना पड़ता। जिस परिवेश से सरकारी विद्यालय में ये लड़कियाँ आती हैं, वहाँ शिक्षा प्राप्त करने के साथ-साथ अधिकतर परिवारों में उनकी भूमिका घर के कामों में हाथ बँटाने से लेकर माता-पिता के काम से वापस लौटने तक छोटे भाई-बहनों की देखभाल के रूप में भी देखी जाती है। इसलिए व्रत रखना और बाहर के खेलों की बजाय घर में खेले जाने वाले खेल विद्यालय व पारिवारिक परिस्थितियों से मेल खाते हैं।

विद्यालय के अन्य सदस्यों द्वारा या अध्यापकों द्वारा अवरोध न होने के दो कारण थे। पहला, कुछ अध्यापक विद्यालय में चल रही प्रक्रियाओं से सहमत हैं। दूसरा, जो सहमत नहीं भी होते, वे सार्वजनिक रूप से विरोध न जताकर उसपर अपनी कक्षाओं में कार्य करते हैं क्योंकि अधिक अनुभवी अध्यापिकाओं की बातों का सार्वजनिक रूप से विरोध स्वीकार्य नहीं होता और अगर विरोध होता भी है तो अन्य सहमति रखने वाली अध्यापिकाओं के द्वारा एक बड़ा समर्थन जुटा लिया जाता था।

एक बुनियादी प्रश्न उभरता है कि अगर शिक्षक सामाजिक रीतियों का नुमाइन्दा है तो फिर उसके शिक्षक होने में क्या अलग है। शिक्षक होने को ऐसे भी देखा जा सकता है– ऐसा व्यक्ति जो एक शैक्षिक प्रशिक्षण से गुज़रा हो। अगर शिक्षा को समतामूलक मानें, जो पाठ्यपुस्तक व पाठ्यक्रम द्वारा विद्यालय में दी जाती है या उसका पोषण होता है, तो शिक्षक होना ऐसे बाहरी पूर्वाग्रहों, धारणाओं व सामाजिक मानदण्डों को अपने ऊपर हावी होने से रोकना है जो शिक्षा व संवैधानिक मूल्यों से मेल नहीं खाते। शैक्षिक प्रशिक्षण का दायित्व ऐसे शिक्षक तैयार करना हैं जो अपने पूर्वाग्रहों व पक्षपात से अवगत हों और अपने ऊपर हावी होने से रोक पाएँ। वरना शिक्षक अपने-अपने निजी अनुभवों को सामाजिक दायरों में सतह दर सतह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण व समझ की रचना करते रहेंगे, जो आपस में विरोधाभासी भी हो सकते हैं। मैं मानती हूँ कि इसमें अध्यापिकाओं को दोष देना सही नहीं है कि वे ख़ुद पितृसत्तात्मक समाज का एक औजार बनकर विद्यालय में भी उन्हीं मानदण्डों का पुनरुत्पादन करती हैं। अपितु यहाँ कमी उनके शैक्षिक प्रशिक्षण में है जो उनकी निजी धारणाओं व मान्यताओं को चुनौती पेश नहीं कर सके। इसका कारण शैक्षिक प्रशिक्षण में जेंडर स्टडीज़ जैसे विषयों का नदारद होना भी है और जहाँ है भी, वहाँ एक विकल्प (option) के रूप में उपस्थित है। हालाँकि यह भी पूर्ण रूप से सत्य नहीं होगा कि जो भी इस विषय को पढ़ेगा वह व्यक्ति या उसकी सोच और व्यवहार एकदम समतामूलक हो जाएँगे क्योंकि ये भी व्यक्ति की निजी प्रेरणा, सामाजिक दृष्टि और मूल्यों पर निर्भर करेगा।

सन्दर्भ

National Crime Records Bureau, Government of India, (2019), Crime in India 2018 Statistics. retrieved from: https://ncrb.gov.in/sites/default/files/Crime%20in%20India%202018%20–%20Volume% 201.pdf

---

रंजना पिछले 12 वर्षों से प्राथमिक शिक्षा से जुड़ी हैं। वर्तमान में दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान से पीएचडी कर रही हैं। बच्चों से जुड़े मुद्दों, उनसे सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयामों को समझने में विशेष रुचि रखती हैं।

सम्पर्क : ranjanavihaan1618@gmail.com